लेख

प्रतिगामी राज्य

ऋतु मेनन

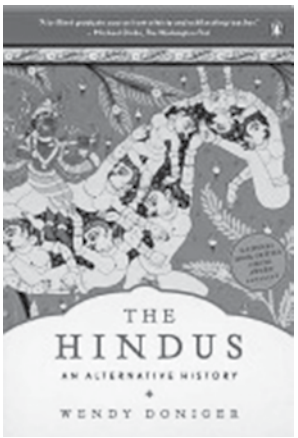

*अमरीकी लेखिका वैंडी डोनिजर की पुस्तक **'द हिन्दूज़ः ऐन ऑल्टरनेटिव हिस्ट्री'** की बाज़ार में बिक्री पर रोक लगा दी गई। कारण दिया गया कि यह किताब हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाती है। डोनिजर इस बात से बेहद नाराज़ व निराश है— उनका मानना है कि असली गुनहगार भारतीय क़ानून है।*

अभी तक इस विषय पर सार्वजनिक तौर पर कुछ कहने वाली एकमात्र राजनैतिक आवाज़ देश के राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी की है। जिन्होंने *पुस्तक मेले* का उद्घाटन करते हुए कहा कि भारत जैसी बहुल संस्कृति वाले देश में उदारता, प्रजातंत्र, बहुभाषिता और बहुजातीयता के मूल्यों की 'सुरक्षा, संरक्षण, विकास और उन्नति' बेहद ज़रूरी है और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हमारे संविधान का सबसे महत्वपूर्ण बुनियादी अधिकार है।

हालांकि वैंडी डोनिजर की किताब के संदर्भ में यह बात महज़ एक संकेतक ही है फिर भी हमारे संविधान की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी उठाने वाले लोगों में से व्यक्ति की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बरकरार रखने वाला यह इकलौता सकारात्मक बयान है। किसी भी अन्य नेता, पार्टी, कार्यकर्ता, क़ानूनविद् या हमारे सांसदों में से किसी ने भी इस मामले पर कोई टिप्पणी नहीं की है। धर्मनिरपेक्ष या साम्प्रदायिक, वामपंथी या उदारवादी सभी पक्षों की ख़ामोशी निराशाजनक है।

पिछले 10-15 वर्षों के हर एक मामले को देखें तो वैंडी डोनिजर का यह मामला एक जाने-पहचाने स्वरूप का अनुसरण करता है। कोई एक व्यक्ति तय कर देता है कि किसी विशेष धर्म का चित्रण, परम्परा या रिवाज का प्रतिनिधित्व किसी एक खास समुदाय की 'भावनाओं' को आहत कर रहा है। कुछ पिछले उदाहरण देखें तो हुसैन की कला, दीपा मेहता की फ़िल्म 'वॉटर', तस्लीमा नसरीन की आत्म-कथा आदि इसी कड़ी का हिस्सा हैं। फिर एक हजूम उमड़ता है और इस 'अपमानजनक' चित्रण के प्रदर्शन या बिक्री के लिए ज़िम्मेदार व्यक्ति या संगठन को हिंसा व तोड़-फोड़ करके डराता-धमकाता है। अक्सर व्यक्ति व समूह इस घटना से डर कर 'अपमानजनक' सामग्री को हटा लेते हैं या ख़ामोश होकर बैठ जाते हैं। उन्मादी भीड़ तितर-बितर हो जाती है। अधिकारों की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए नियुक्त सरकारी एजेंसियां तमाशा देखती रहती हैं और इनमें से कोई भी व्यक्ति या समूह की सुरक्षा के लिए आगे नहीं आता।

सड़क पर होने वाली या भीड़ द्वारा की जाने वाली सेंसरशिप कोई नई बात नहीं है बल्कि कई मामलों में तो ऐसा देखा गया किसी विवादित मुद्दे पर यह राज्य की कार्यवाही से पहले ही अंजाम दी जाती है जिससे किसी भी औपचारिक प्रतिक्रिया की आवश्यकता ही न पड़े। आख़िर भीड़ की हरकत के लिए कोई भी ज़िम्मेदार नहीं होता! इसके अलावा एक व्यक्ति या पहचाने जाने वाले समूह की तरह भीड़ का कोई चेहरा नहीं होता और देखते ही देखते वह तितर-बितर भी हो जाती है। इसलिए किसी भी आपराधिक कार्यवाही के लिए भीड़ को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उसके ख़िलाफ़ एफआईआर भी दर्ज नहीं की जा सकती। यह बात भीड़ जानती है, पुलिस, प्रशासन और अदालतें भी जानती हैं।

परन्तु इस परिस्थिति का सबसे डरावना और बौखला देने वाला पहलु यह है कि राज्य व उसके पक्षों ने अपनी ज़िम्मेदारी से मुंह मोड़कर उसे व्यक्तियों और समाज के कंधों पर डाल दिया है। ऐसा दो तरीक़ों से किया गया है। सबसे पहले राज्य ने हिंसक वारदातों में सुरक्षा प्रदान करना बंद कर दिया है। दूसरे, यह हमला करने वालों के ऊपर से अपराध और ज़िम्मेदारी को हटाकर खुद का बचाव करने वालों के ऊपर दायित्व को थोपकर किया गया है।

लिहाज़ा हम सबका यह दायित्व बन गया है कि हम किसी का 'अपमान' न करें और अगर ऐसा हो जाए और वे 'गैर ज़िम्मेदाराना' तरीक़े से व्यवहार करें तो हम

परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहें। राज्य इसमें हमारी कोई मदद नहीं कर सकता।

पिछले दस वर्षों के अनौपचारिक सेंसरशिप के अपने काम के दौरान मैंने इस विषय पर कई लेख लिखे हैं, भाषण दिये हैं और अदालत में केस भी दर्ज किए हैं। पर अब मुझे लगता है कि हमें अपना रुख बदलने की ज़रूरत है। हालांकि इस दबाव के चलते समझौता करने वालों के ख़िलाफ़ अपना विरोध दर्ज करना भी अहम है पर अब समय आ गया है कि हम राज्य की निष्क्रियता को गंभीरता से चुनौती देते हुए उससे जवाबदेयी की मांग करें।

उदाहरण के लिए डोनिजर मामले में अदालत ने किस आधार पर प्रार्थी के इस दावे को स्वीकारा कि उसकी किताब 'हिंदुत्व' का 'अपमान' करती है? वे किस हिंदु समुदाय का प्रतिनिधित्व कर रहे थे? किसकी भावनाओं के आहत होने का दावा कर रहे थे? हमारे देश में असंख्य ऐसे हिन्दु हैं जिनकी अहिंसा और सहनशीलता की भावनाएं (जिन्हें कट्टर हिन्दु भी 'हिन्दु' ही मानते हैं) इस याचिका के कारण उतनी ही 'अपमानित' और 'खिन्न' हुई हैं। साथ ही व्याख्यान की आज़ादी, आवाजाही और साहचर्य की आज़ादी जैसे अधिकारों के लिए हमारे सम्मान को भी ठेस पहुंची है। फिर अदालत के विचार में डीएन बत्रा का दावा और विवाद मान्य कैसे हुआ? क्यों सरकार, पुलिस और अदालत कुछ लोगों को पहुंचने वाली 'चोट' के प्रति इतना अतिसंवेदनशील हो जाती है कि समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से जानबूझकर मुंह मोड़ लेती है? क्या यह एक आक्रामक भीड़, एक प्रतिगामी राज्य का संकेतक नहीं है?

भारतीय दंड संहिता की धाराएं '153 अ' व '295 अ' का कोई भी गंभीर रूप से दुरूपयोग कर सकता है। अगर हम यह मान भी लें कि 'धार्मिक' भावनाएं 'अपमानित' हो सकती हैं तो भी किस दलील से यह एक अपराध, राज्य के ख़िलाफ़ अपराध बन जाता है? धारा '153 अ' का संबंध "विभिन्न समूहों के बीच धर्म, नस्ल, जन्म स्थान, आवास, भाषा आदि के आधार पर बैर को बढ़ावा देने" और "सद्भाव को बनाए रखने में विरोधी कार्यवाही करने" से है। धारा '295 अ' के अनुसार "किसी भी वर्ग की धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करने की मंशा से, उसके धर्म या धार्मिक विश्वासों को अपमानित करने के लिए की गई द्विवेषी और जानी-बूझी कार्यवाही अपराध है। भारत के नागरिकों के साथ ऐसा करने वाले किसी भी व्यक्ति को तीन साल की कैद या जुर्माना अथवा दोनों, की सज़ा का प्रावधान किया गया है। धारा '153 अ' के तहत अधिकतम पांच वर्ष की सज़ा या जुर्माना अथवा दोनों का प्रावधान है।"

इस अस्पष्ट और 'सब लोगों की धार्मिक भावनाओं का ध्यान रखने' के विचार से बनाई गई व्याख्या को देखते हुए यह अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है कि कहीं भी, कोई भी यह दावा कर सकता है कि किसी साधारण सी बात या टिप्पणी से वह 'अपमानित' या 'बेइज़्ज़त' महसूस कर रहा है, किताब, पेंटिग या फ़िल्म तो बहुत दूर की बात है। तो फिर पुलिस या अदालत यह कैसे तय करेगी कि कब कोई केस दर्ज किया जाए या याचिका मंज़ूर की जाए? कौन से क़ानूनी और वैध पैमानों का उचित उपयोग करके यह जांचा जा सकता है कि 'धार्मिक भावनाएं' किस तरह आहत हुई हैं? और कौन सी दलील श्री डी.एन. बत्रा की 'धार्मिक भावनाओं' को आपकी या मेरी भावना से ऊपर रखने के लिए इस्तेमाल की जाएगी जो चोट और तकलीफ़ के बनावटी पदानुक्रम को स्थापित कर सके?

करोड़ों भारतीय अपनी इच्छा से अपने चुने हुए धर्म के तहत राहत और स्वीकृति पाते हैं और ऐसा करना उनका अपरिहार्य अधिकार है। और इसी तरह करोड़ों भारतीय नागरिक अपने व्याख्यान, सुरक्षा और साहचर्य के अपरिहार्य अधिकार की सुरक्षा की उम्मीद राज्य से करते हैं। पर अगर धार्मिक संस्थान और राज्य ही हमें निगलने के लिए मुंह बाए खड़े हों तो हम क्या करें? फिर हम कौन से न्याय की उम्मीद कर सकते हैं?

अंत में मैं यही कहना चाहूंगी कि चाहे कुछ भी हो जाए हमें विरोध और चौकसी तब तक करनी होगी जब तक हम राज्य और उसके संस्थानों की कातरता को उजागर नहीं करते और उनको हमारे हक़ों के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाते। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमसे विरोध करने की आज़ादी भी छीनी जा सकती है।

ऋतु मेनन *नारीवादी प्रकाशन ज़ुबान अनलिमिटेड, दिल्ली की संस्थापक हैं।*